

संस्कृत वाङ्मय में वर्णित विवाह : एक अनुशीलन

पंकज कुमार शर्मा

शोधच्छात्र, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, गंगानाथ झा परिसर, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

हिन्दू संस्कारों में विवाह का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। अतिप्राचीन काल में ही विवाह को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो चुका था धार्मिक चेतना का विकास होने पर विवाह सामाजिक आवश्यकता ही नहीं रहा अपितु वह प्रत्येक व्यक्ति का एक अनिवार्य कर्तव्य समझा जाने लगा। अधिकांश गृह्यसूत्रों का आरम्भ विवाह संस्कार से होता है क्योंकि यह समस्त गृह्ययज्ञों व संस्कारों का उद्गम केन्द्र है।

विवाह का अर्थ है कन्या को उसके पितृगृह से विशेष रूप अथवा प्रयोजन विशेष (पत्नी बनाने) के लिये ले जाना। उद्वाह परिणय, उपयाम, पाणिग्रहण प्रभृति इसके अपर पर्यायवाची शब्द हैं।

विवाहोमयौ समौ तथा परिणयोद्वाहोपयामाः पाणिपीडनम् ¹

साधारण परिस्थितियों में समाज प्रत्येक व्यक्ति से विवाह कर गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा करता है। उससे भी पूर्व वैदिककाल में, जबकि कर्मकाण्ड व विधि—विधानों सहित बहुत थोड़े ही संस्कार अस्तित्व में आये थे वैवाहिक रीति—रिवाजों का विकास हो चुका था। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में उन्हें काव्यमय अभिव्यक्ति प्राप्त हुई थी। ऋ. १०.८५ अथर्व. १४.१.२

घर का मधुर तथा स्नेहमय वातावरण, पत्नी के साथ विवाहित प्रेममय जीवन तथा इसके फलस्वरूप होने वाली सन्तान का पालन—पोषण वैदिक आर्यों को अत्यन्त प्रिय थे। विवाह एक यज्ञ माना जाता था। जो व्यक्ति विवाह करके गृहस्थ जीवन में प्रवेश नहीं करता था, उसे अयज्ञीय अथवा यज्ञहीन कहा जाता था।

'अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः' ²

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने स्पष्ट रूप में बताया है कि जो स्नातक विवाह नहीं करता वह निन्दा का पात्र है। (महाभाष्य २.१.२६) मनु के विचार से विवाह का उद्देश्य है— सन्तान प्राप्ति शास्त्रोक्त धर्म का पालन और यौनतृप्ति है।

अपत्यं धर्मकर्माणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा दाराधीनास्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्चयः ॥ ³

अर्धनारीश्वर की कल्पना इसी तथ्य को पुष्ट करती है। पति—पत्नी एक दूसरे के पूरक हैं। इसप्रकार पत्नी परमावश्यक है, उसकी प्राप्ति विवाह से ही सम्भव है क्योंकि बिना किसी रीति से विवाह हुये किसी भी स्त्री पुरुष युगल को पति—पत्नी के रूप में सामाजिक तथा वैधानिक मान्यता नहीं मिल सकती इसलिये विवाह को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी वर्णों के लिये आवश्यक माना गया है—

अपत्नीको नरो भूप कर्मयोग्यो न जायते ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यः शूद्रोऽपि वा नृप ॥

मनुस्मृति ग्रन्थों में रजस्वला होने अर्थात् १२ वर्ष की अल्पायु से पूर्व कन्या के विवाह की मान्यता प्रतिपादित की गयी है।

त्रिवर्षोद्वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् । त्र्याष्टवर्षोऽष्टवर्षा वा धर्मे सीदति सत्वरः ⁴

विवाह के प्रधान भौतिक लक्ष्य— सन्तान प्राप्ति को ध्यान में रखते हुये आचार्य सुश्रुत ने पुरुष के लिये पच्चीस वर्ष तथा स्त्री के लिये १६ वर्ष की अवस्था को विवाह योग्य बताया है।

पञ्चविंशे ततो वर्षो पुमान् नारी तु षोडशे । समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥ '(सुश्रुत सूत्रस्थान)

कामसूत्र में भी कन्या का पुरुष से कम से कम ३ वर्ष कम अवस्था वाली होना बताया गया है—

त्रिवर्षात् प्रभृति न्यूनवयसाम् ⁵

गोत्रादि के विचार से अनिषिद्ध तथा धनधान्य सम्पन्न होने पर भी मनु दस प्रकार के कुलों में विवाह न करने का निर्देश दिया गया है वे हैं वैदिक क्रियाओं से रहित, पुरुष विहीन, वेद के ज्ञान से शून्य, रोमश, अधिक और लम्बे रोम वाले, अर्श (बवासीर) रोग युक्त, क्षय—रोग ग्रस्त, मन्दाग्नि से पीडित, अपस्मार (मिरगी रोग) युक्त, चित्र सफेद, लाल, कृष्ण दागों तथा गलितकुष्ठ रोग वाले परिवार।

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् । क्षय्यामायाव्यपस्मारिश्चित्रकुष्ठिकूलानि च ⁶

उपनिषदों के काल में आश्रमों का सिद्धान्त पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुका था। इसके पोषकों का मत था कि प्रत्येक व्यक्ति को एक के पश्चात् दूसरे आश्रम में क्रमशः जाना चाहिए। अर्थात् सर्वप्रथम ब्रह्मचर्याश्रम, उसके पश्चात् विवाह कर उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। वानप्रस्थ और उसके पश्चात् उसे सम्पूर्ण सांसारिक सम्बन्धों तथा बन्धनों का त्यागकर संन्यासी का जीवन व्यतीत करना चाहिए। व्यक्तित्व विकास के लिये गृहस्थाश्रम अनिवार्य माना जाता था तथा विवाह को किसी भी दृष्टि से हीन नहीं समझा जाता था प्राचीन काल में अनेक कारणों से विवाह को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। निःसन्देह मानव विकास के पशुपालन और कृषियुग में इस आदर और महत्त्व का मूल में अनेक आर्थिक और सामाजिक कारण विद्यमान थे। बड़ा परिवार उस समय आर्थिक व सुरक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता था। विवाह वैयक्तिक नहीं, एक पारिवारिक विषय था। वस्तुतः आरम्भ में वंश की अक्षुण्यता बनाये रखने के लिये सन्तानोत्पत्ति ही विवाह का प्रमुख उद्देश्य था। विवाह को इतना महत्त्व देने में धार्मिक कारण था। देवताओं और पितरों की पूजा सन्तान पर ही अवलम्बित थी जो केवल विवाह के द्वारा प्राप्त की जा सकती थी। आगे चलकर हिन्दूधर्म में सामाजिक

तथा आर्थिक कारणों की अपेक्षा अन्तिम कारण सन्तानोत्पत्ति ही अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया।

वैवाहिक विधि-विधान के विकासपूर्ण यथार्थ ज्ञान के लिये यह जानना आवश्यक है कि उनका उद्भव किस प्रकार, क्यों और किन हालात में हुआ उन परिस्थितियों ने जिनमें विवाह संस्था का विकास हुआ वैवाहिक कर्मकाण्ड के स्वरूप व प्रकृति को एक विशेष साँचें में ढाल दिया। विवाह शब्द का तात्पर्य स्त्री और पुरुष के उस सम्बन्ध से है जो मैथुन के साथ ही समाप्त नहीं होता है, अपितु उसके बाद भी जब तक शिशु स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने योग्य नहीं हो जाता है, विद्यमान रहता है, यह स्पष्ट है कि केवल यौन प्रवृत्ति के आधार पर स्त्री और पुरुष के बीच स्थायी सम्बन्ध का विकास सम्भव नहीं था।

हिन्दू वैवाहिक विधि विधान एकपत्नीव्रत को सामान्य सत्य मानकर चलते हैं। ऋग्वेदकालीन समाज में परिवार संस्था में सम्भव नहीं थी। वैदिक साहित्य में यौन सम्बन्ध प्राग्वैवाहिक स्थिति में सम्भव नहीं था, वैदिक साहित्य में यौन सम्बन्धों की स्वेच्छाचारिता का कोई भी उदाहरण नहीं मिलता। इसका उल्लेख केवल महाभारत में ही प्राप्त होता है।

**अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने।
कामाचार वहिरिण्यः स्वतन्त्राश्चारुहासिनि ॥7**

अस्थायी विवाह का उदाहरण ऋग्वेद १०.६५ में उर्वशी पुरुरवा के आख्यान में प्राप्त होता है। इसप्रकार विवाह का यह प्रकार ऋग्वेद काल में प्रचलित नहीं था केवल उस प्राचीनकाल की स्मृति ही रहा होगा। जब अस्थायी विवाह समाज में प्रचलित थे हिन्दू धर्मशास्त्रों में विवाह के ४ भेद माने गये हैं। ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच।

**ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः
गान्धर्वराक्षसौ चान्यो पैशाचाष्टमो मतः ॥8**

आठ विवाहों में प्रथम विवाह ब्राह्म विवाह है यह विवाह सर्वोत्तम विवाह माना गया है। इसमें पिता कुलीन एवं सच्चरित्र वर को अपने घर आमन्त्रित करता था तथा उसका स्वागत सत्कार कर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कन्या को प्रदान करता था।

**आच्छाद्य चार्जयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।
आहुय दानं कन्यायाः ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ 9**

यह विवाह स्वेच्छा से और बिना किसी के दबाव से होता था। विवाह का यह प्रकार समाज की विकसित अवस्था का द्योतक है क्योंकि इसमें कन्या का अपहरण तथा शक्ति का अनुचित प्रयोग आदि दुष्प्रवृत्तियों के लिये कोई स्थान नहीं था। ऋग्वेद में वर्णित सोम और सूर्या का विवाह इसी कोटि में आता है। स्मृतिकारों ने भी इस विवाह को श्रेष्ठ बताया है।

विवाहों में दूसरा विवाह दैव विवाह है। इस विवाह में कन्या का पिता किसी यज्ञ का आयोजन करके बहुत पुरोहितों से विधिपूर्वक यज्ञ का अनुष्ठान सम्पन्न करा लेता था, तत्पश्चात् पिता अपनी कन्या को दक्षिणा के स्वरूप प्रदान करता था। मनुस्मृति में कहा गया है कि यज्ञ में विधिवत् कर्म करते हुए ऋत्विक् को वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कन्या प्रदान करना ही दैवविवाह है।

**यज्ञे तु वितते सम्यग्वित्तिजे कर्म कूर्वते।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ 10**

यह विवाह देवताओं के लिये यज्ञ करते समय सम्पन्न होता था। इसलिये इसे दैवविवाह की संज्ञा प्रदान की गयी।

दैवविवाह ब्राह्म विवाह से हीन माना गया क्योंकि ब्राह्म विवाह में जहाँ किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं था वहीं दैवविवाह में कन्यादान पुण्य प्राप्त करने के लिये और पुरोहित द्वारा यज्ञ में की गयी सेवा के बदले किया जाना था। विवाह का तीसरा प्रकार आर्षविवाह है जिसमें कन्या का पिता वर पक्ष से यज्ञादि क्रियाओं के लिए एक या दो जोड़ी गाय या बैल प्राप्त करता था।

**एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ 11**

किन्तु कुछ पश्चात्य विचारकों ने वर पक्ष द्वारा कन्या के पिता को दिये गये गाय, बैल को कन्या का मूल्य मानते हुए इसे आसुर विवाह के रूप में परिष्कृत कर दिये। हिन्दू शास्त्रों के मत में यह स्वीकृत्य नहीं है। उनका विचार है कि गोमिथुन केवल यज्ञीय कर्म के लिए दिये जाते थे, जो किसी प्रकार का कन्या का मूल्य नहीं था और कुछ शास्त्रों के अनुसार बाद में कन्या के साथ ही वर पक्ष को ये गोमिथुन लौटा भी दिये जाते थे। फिर भी इसप्रकार के विवाह में कन्या पक्ष द्वारा वर से धनप्राप्ति करने का भाव अवश्य ही था, इसीलिए मनु आदि स्मृतिकारों ने इसे अधिक महत्त्व प्रदान नहीं किया है।

चौथा विवाह प्राजापत्य विवाह है। इस विवाह के अन्तर्गत वर कन्या के पिता के घर प्रार्थी के रूप में जाता था और कन्या का पिता उसकी विधिपूर्वक पूजा करके 'तुम दोनों साथ-साथ धर्म का आचरण करो' इस आदेश के साथ वर को कन्या प्रदान कर देता था।

**सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ 12**

इसमें पति और पत्नी दोनों के अधिकार समान रूप से सुरक्षित रहते थे, किन्तु हिन्दू धारणा के अनुसार यह प्रथम तीन प्रकारों की अपेक्षा निम्नतर है। वर-वधू तथा उनके परिवार उच्च मर्यादा तथा उन्नत आदर्शों के साथ आबद्ध थे। प्राजापत्य प्रजापति शब्द से उद्भूत है, जिसका आशय यह था कि वर-वधू प्रजापति के प्रति अपने सन्तान उत्पन्न करने और उसके पालन पोषण के उत्तरदायित्व के प्रति सचेष्ट रहें।

आसुर विवाह पाँचवाँ प्रकार का है। यह विवाह गान्धर्व विवाह की अपेक्षा विवाह का श्रेष्ठतर प्रकार था। (आ०गृ०सू०१.६) मनु के अनुसार जिस विवाह में पति कन्या तथा उसके सम्बन्धियों को यथाशक्ति धन प्रदान कर, स्वच्छन्दतापूर्वक कन्या से विवाह करता है उसे आसुर विवाह कहते हैं।

**ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तिः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यासुरो धर्म उच्यते ॥ 13**

महाभारत और बौद्धसाहित्य में इस प्रकार के विवाह के उदाहरण मिलते हैं। महाभारत में स्वयं भीष्म ने इस विवाह प्रथा की निन्द्या की है। भीष्म ने कतिपय कुरु राजकुमारों के लिए क्रय द्वारा पत्नियों प्राप्त की थीं। जब वे शल्य के पास इस उद्देश्य से पहुँचे, तो उन्हें परिस्थिति की कठिनता की गम्भीरता का अनुभव हुआ—

**पञ्चानां तु त्रयो धर्माः द्वावधर्म्यो युधिष्ठिरः
पैशाचाश्चासुरश्चैव न कर्तव्यो कथञ्चन ॥14**

बौधायन ने धन देकर खरीदी गयी पत्नी को वैध नहीं माना है और कहा है कि जो व्यक्ति धन के लोभ में कन्यादान करते हैं वे अपनी ही बिक्री करते हैं तथा महान् पापी होते हैं वे नरक प्राप्त करते हैं तथा सात पीढ़ियों के पुण्य को नष्ट करते हैं।

**शुक्लेन ये प्रयच्छन्ति स्वसुतां लोभमोहिताः ।
आत्मविक्रयिणः पापा महाकिल्बिषकारकाः ॥
पतन्ति निरये घोरे घ्नन्ति चासप्तसंकुलम् । 15**

गान्धर्व विवाह विवाह के प्रकारों में छठवाँ है। यह प्रणय विवाह था जिसमें वर और कन्या माता-पिता की इच्छा के न होने पर भी परस्पर एक दूसरे के गुणों पर अनुरक्त होकर अपना विवाह कर लेते थे। मनु के अनुसार जहाँ वर और कन्या अपनी स्वेच्छा से परस्पर मिलते हैं और काम के वशीभूत होकर विवाह कर लेते हैं उसे गान्धर्व विवाह कहते हैं।

**इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥ 16**

संस्कृत-महाकाव्यों में इसप्रकार के अनेक विवाहों का उल्लेख है। दुष्यन्त और शकुन्तला का विवाह भी गान्धर्व विवाह था जो अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के नायक-नायिका हैं। यह नाटक पूरे विश्व में प्रख्यात हुआ उदयन और वासवदत्ता, पुरुरवा और उर्वशी, चन्द्रापीड और कादम्बरी तथा पुण्डरीक और महाश्वेता का प्रणय विख्यात है, जो गान्धर्व विवाह के अन्तर्गत ही आता है कुछ साहित्यकारों ने इस विवाह की प्रशंसा की और सर्वोत्तम माना। महाभारत में शकुन्तला के पिता कण्व ऋषि ने कहा- सकाम पुरुष के साथ विवाह चाहे धार्मिक क्रियाओं से रहित ही क्यों न हो, सर्वोत्तम है। वात्स्यायन ने भी इस विवाह को सर्वश्रेष्ठ बताया है-

**सुखस्वाद बहुक्लेशादपि चावरणादिति ।
अनुरागात्मकत्वाच्च गान्धर्वः प्रवरो मतः ॥ 17**

अधिकांश स्मृतिकारों ने इसे कामभावना पर आधारित एवं संस्काररहित होने के कारण प्रशस्त नहीं मानते सातवाँ विवाह राक्षस विवाह माना जाता है। बलप्रयोग द्वारा युद्ध के माध्यम से किसी कन्या का अपहरण कर विवाह करना राक्षस विवाह कहा गया। मनु के अनुसार कन्या पक्ष वालों की हत्याकर, घायलकर, उनके घरों को तोड़कर, रोती चिल्लाती हुई कन्या को बलात् उठा लाना तथा उसके साथ विवाह करना राक्षस विवाह कहा गया। महाभारत में इसे क्षात्रधर्म कहा गया है और मनु ने भी 'राक्षसं क्षत्रियस्यैकम्' कहकर इसे क्षत्रियों के लिये प्रशंसनीय बताया है। श्रीकृष्ण ने रुक्मी को युद्ध में परास्तकर उनकी बहन रुक्मिणी से विवाह किया था। पृथ्वीराज और संयोगिता का विवाह भी इसी आधार पर हुआ था। धीरे-२ इस विवाह को असभ्यता का चिन्ह माना जाने लगा और समाज में यह विवाह का प्रकार लुप्तप्राय हो गया।

**निर्जित्य रुक्मिणं सम्यगपमेये च रुक्मिणीम् ।
राक्षसेन विवाहेन सम्प्राप्तां मधुसूदनः ॥ 18
हत्वा हित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ मनु०-३.३३**

विवाहों में अन्तिम 8वाँ विवाह पैशाच विवाह है। सर्वाधिक अप्रशस्त प्रकार था पैशाच विवाह। पैशाचश्चाष्टमोऽधमः, (मनु-३.२९) इसके अनुसार छल-कपट के द्वारा कन्या पर अधिकार प्राप्त करता

था, अतः इसे सभी प्रकारों से निम्नतम माना जाता था। आश्वलायन-गृह्यसूत्र के अनुसार सुप्त, मत्त अथवा अचेतन कन्या का हरण पैशाच विवाह कहा जाता था स्मृतियों ने इस विवाह की घोर भर्त्सना की है। धर्मशास्त्रों ने इस विवाह भेद को अत्यन्त जघन्य, अप्रशस्त, गर्हित, निन्दित और अधार्मिक बताया है। अतः छलपूर्वक सम्पन्न नितान्त बर्बर एवं असभ्य इस प्रथा का बहुत से विचारकों ने विवाह-प्रकारों में उल्लेख भी नहीं किया है-

**सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
सा पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ 19**

गौतम और विष्णुपुराण की परिभाषा में अचेतन, सुप्त या मत्त कन्या के साथ मैथुन करना ही पैशाच विवाह है। याज्ञवल्क्य किसी कन्या के साथ छलपूर्वक किये गये विवाह को पैशाच मानते हैं। यह आदिम असभ्य जनो में प्रचलित था। ऐसा लगता है कि पश्चिमोत्तर भारत की पिशाच जाति में इसका प्रचलन था जिससे इसका नाम पैशाच पड़ा। कतिपय अन्य प्रकार के विवाहों का भी उल्लेख प्राप्त होता है जिनका स्मृतिकारों तथा धर्मशास्त्रियों ने उल्लेख नहीं किया है। विनिमय विवाह हिन्दू समाज में आज भी प्रचलित है, किन्तु केवल कुछ दरिद्र माता-पिता जिनकी सन्तान की ओर साधारणतः अपेक्षित लोगों का ध्यान आकृष्ट नहीं हो पाता, अपने पुत्र-पुत्री के विनिमय द्वारा विवाह की व्यवस्था करते हैं। यह कोई ऐच्छिक प्रथा नहीं है इसका अनुसरण तो परिस्थितियों से बाध्य होकर किया जाता है। शेष पहलुओं में यह ब्राह्म विवाह के ही समान है। हिन्दू धर्मशास्त्रों में स्वयंवर विवाह की चर्चा नहीं की गई है, परन्तु ऋग्वेद के एक उल्लेख से पता चलता है कि स्वयंवर प्रथा का जन्म प्राचीन काल में हो चुका था।

'भद्रा वधूर्भवति यत्सुवेशाः स्वयं सा मित्रं कृणुते जने इत् ।' 20

इसमें वधू अपने वर का स्वयं चयन करती थी। गान्धर्व विवाह में वर-वधू परस्पर आसक्ति के कारण एक-दूसरे का चुनाव करते थे, जबकि स्वयंवर में चयन का अधिकार केवल कन्या को था। सीता तथा द्रौपदी की स्वयंवर कथाओं से पता चलता है कि इसप्रकार के विवाह में कोई शर्त निश्चित होती थी, जो व्यक्ति उसे पूरा करता था उसी के साथ विवाह होता था। सम्भवतः यह प्रथा राजघराने में ही होती थी। इसके द्वारा विभिन्न प्रदेशों में से (अपनी शर्त के अनुसार) मनचाहे गुणों वाले वर का चयन सरल हो जाता था। धर्मशास्त्रों में यह व्यवस्था दी गई है कि यदि अभिभावक कन्या का विवाह नहीं कर पाता तो वह अपना पति चुन सकती है।

**अप्रयच्छन् समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृत्तौ ।
गम्यन्त्वभावे दातृणां कन्या कुर्यात् स्वयम्बरम् ॥ 21**

वैदिककाल में अन्तर्जातीय विवाह बहुत सरल थे। यह समझना कठिन है कि यदि अन्तर्जातीय विवाह का किसी भी प्रकार का यथार्थ निषेध था तो उत्सवों, समाजों, और व्यक्तिगत रूप से परस्पर मिलने जुलने की स्वतन्त्रता युवकों और युवतियों को कैसे दी जा सकती थी। अन्तर्जातीय विवाह साधारणतः अनुलोम विवाह का रूप ले लिया था। ऋग्वेदकालीन पुरोहित वर्ग के पुरुषों के विषय में प्रायः यह कहा गया है कि उन्होंने राजवंशों में विवाह किया, जैसे कि च्यवन श्यावाश्व या विमद ने किया।

वैदिक साहित्य में शूद्र आर्य विवाह के भी कुछ उदाहरण प्राप्त होते हैं। एक यजुर्वेद संहिता में 'अयोगु' शब्द का उल्लेख आता है (यजु०३०.५) और यदि उसका अर्थ स्थपति कर दिया जाये तो

इसका तात्पर्य शूद्र के साथ विवाहित एक (वैश्य) स्त्री से होगा।

**शूद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालश्चाधमो नृणाम् ।
वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसङ्कराः २२**

यजुर्वेद संहिता में अन्यत्र भी ऐसे कुछ उदाहरण मिलते हैं, जिनसे प्राचीनकाल में इसप्रकार के सम्मिश्रण व संकर के आरम्भ का ज्ञान होता है। वर्णव्यवस्था को ध्यान में रखते हुये गौतम, मनु, प्रभृति धर्मशास्त्रकारों से सवर्ण एक ही वर्ण के स्त्री पुरुष के विवाह को श्रेष्ठ माना है, परन्तु वैदिककाल में यह प्रतिबन्ध दृष्टिगत नहीं होता। ब्राह्मण ऋषि च्यवन की पाणिग्रहीती सुकन्या क्षत्रिय राजकुमारी थी। (शतपथ ब्रा० ४.१५)

वृष्णिवंशज शौरि की एक पत्नी वैश्य थी। (मत्स्य पु० ४६.२०) चाक्षुष और कक्षीवान् जैसे तपस्वियों की माता शूद्रा थी, पिता ब्रह्मर्षि। (म०पु०-४८.७२) क्षत्रिय भावयव्य ने ब्राह्मण कन्या अंगिरसी विवाह किया था। (ऋ०१.२६)

शुक्राचार्य की पुत्री दुहिता देवयानी ययाति की भार्या बनी थी। (भागवत० ६.१८) समाज में अन्तवर्णीय विवाह को देखते हुये इन्हें दो वर्गों में विभक्त किया गया। अनुलोम तथा प्रतिलोम उच्चवर्ण के पुरुष तथा उससे निम्न वर्ण की कन्या का विवाह अनुलोम माना जाता था तथा इसके विपरीत उच्चवर्णीय कन्या का उससे निम्न वर्णीय पुरुष के साथ विवाह प्रतिलोम कहा जाता था। अनुलोम विवाह के आधार पर ब्राह्मण तीन क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कन्याओं से, क्षत्रिय दो-वैश्य एवं शूद्र स्त्रियों से तथा वैश्य मात्र एक-शूद्र कन्या से भी अतिरिक्त विवाह कर सकता था। यह सिद्धान्त धर्मशास्त्रों में प्राप्त होता है।

इसप्रकार प्रतिलोम विवाह वैदिककाल में ज्ञात थे तथा समाज उन्हें अमान्य नहीं समझता था, भले ही वे अत्यधिक प्रचलित न रहे हों। भारतीय समाज में पितरों को पिण्डदान आदि की दृष्टि से पुत्रोत्पत्ति बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है अतः धर्मशास्त्रों में पुत्र प्राप्ति हेतु एक से अधिक स्त्री के साथ विवाह का उल्लेख मिलता है इतना ही नहीं, सगोत्र, प्रवर, नपुंसक, होने पर अथवा उसकी मृत्यु हो जाने पर पुत्रोत्पादन की अनुमति भी दी गयी है। यह प्रथा नियोग के नाम से जाने जाती है। इसीप्रकार विशेष परिस्थितियों में पति पत्नी के सम्बन्ध विच्छेद की भी व्यवस्था देखी जा सकती है। मनु ने स्पष्टतः लिखा है कि किसी मन्त्र की किसी शाखा में नियोग का कथन नहीं है और न ही विधवा विवाह का।

इसप्रकार का सम्बन्ध पशुधर्म के समान बताया गया है। वस्तुतः भारतीय समाज में शची-इन्द्र, अरुन्धती वशिष्ठ, सावित्री-सत्यवान् जैसे आदर्श दम्पती श्रद्धा और आदर के पात्र हैं। हिन्दू विवाह ने नैतिकता धार्मिकता तथा पवित्रता का इतना पुट डाल दिया जाता था कि पति पत्नी का सम्बन्ध विच्छेद मृत्यु द्वारा ही सम्भव है।

सन्दर्भ

1. (अमरकोश - २.८.५६)
2. (तै०ब्रा- २.२.२.६)
3. (मनु ६.२८)
4. मनु० (६.६४)
5. (३.१२)
6. (मनु०३.७)
7. महा भा० १.१२८
8. (विष्णुपुराण ३.१०.२४)
9. (मनु.३.२७)
10. (मनु ३.२८)
11. (मनु-३.२६)
12. मनु ३.३०

13. मनु०-३.३१
14. महा०-१३.४४.६
15. (बौधायन धर्मसूत्र -१.११.२०-२१)
16. (मनु०-३.३२)
17. कामसूत्र- ३.५.३०
18. विष्णु पु०-५.२६.११
19. मनु० ३.३४
20. (ऋग्वेद-१०.२७.२२)
21. याज्ञ० १.६४, मनु० ६.६१
22. (मनु०१०.१२)